



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2020; 6(10): 97-100
www.allresearchjournal.com
 Received: 13-08-2020
 Accepted: 15-09-2020

डॉ. कमलकान्त पटेल
 शोधार्थी, पोस्ट-डॉक्टरल फ़ैलो
 समाजशास्त्र विभाग, मोहनलाल
 सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर,
 भारत

आधुनिक भारत में आदिवासी विकास में वैश्वीकरण की भूमिका

डॉ. कमलकान्त पटेल

सारांश

वैश्वीकरण के इस वर्तमान दौर में मनुष्य जाति ने विकास के नित नये प्रतिमान गढ़े हैं। तकनीकी विकास की इस क्रांति ने विभिन्न देशों में वैश्विक परिदृश्य प्रदान करते हुए उन्हें एक गाँव में परिवर्तित कर दिया है। विश्व की अलग-अलग सभ्यता, संस्कृति एवं भाषागत विविधताओं को दर किनार करते हुए वैश्विक गाँव के निर्माण की करतल ध्वनि जगत में गुंजायमान हो रही है। परन्तु दूसरी ओर 'मुख्यधारा' से पृथक एक ऐसा सामाजिक वर्ग भी है जो विकास के धुंधले प्रकाश से कोसों दूर है इस वंचित वर्ग को विकास के तमाम दावों के बाद भी आदिवासी समुदाय भूखमरी, गरीबी, भौतिक संसाधनों के अभाव के बीच जीवन-यापन करने को अभिशप्त है। वैश्वीकरण की इस प्रक्रिया में आदिवासी समाज में सकारात्मक व नकारात्मक दोनों तथ्यों से परिवर्तन देखा जा सकता है।

कुटुम्ब: आदिवासी, विकास, वैश्वीकरण, भूमण्डलीकरण, आदिवासी संस्कृति में बदलने प्रतिमान, मानवीय अधिकार, मानवीय मूल्य, शिक्षा, संभावना एवं चुनौतियाँ, समाधान एवं सुझाव इत्यादि

प्रस्तावना

समसामयिक विश्व में 'ग्लोबलाइजेशन' का विचार कई गम्भीर खामियों के बावजूद देशों के विकास की अनिवार्य शर्त बनता जा रहा है। आधुनिक विश्व में 'ग्लोबलाइजेशन' अवधारणा का प्रचार वैश्विक कुटुम्ब के रूप में हुआ। विश्व के राष्ट्रों की आवश्यकता या स्वार्थ ने आखिरकार औपनिवेशिककालीन शोषणकाल के पश्चात् विकासशील व गरीब देशों की ओर एक बार "वैश्वीकरण" का यह लुभावना "वैश्विक गाँव" का नारा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। वैश्वीकरण ने मानव समाज के प्रत्येक पहलू को गहराई से प्रभावित किया है। विकसित राष्ट्रों द्वारा स्वार्थपूर्ण उद्देश्य को लक्षित करते हुए स्वयं की अतिरिक्त मात्रा की तैयार उपभोक्ता सामग्री के लिए, अछूता रहा विशाल बाजार सुनिश्चित करने के लिए इस "वैश्वीकरण" के अदभूत विचार ने विश्व के विभिन्न समुदायों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक, राजनैतिक व शैक्षणिक अन्तर्सम्बन्धों के नए अध्याय प्रारंभ हुए। इस तन्त्र में सभी में स्वार्थपरक नजदीकता स्थापित हुई। इस माहौल में एल.पी.जी. (लिबरलाइजेशन, प्राइवेटाइजेशन, ग्लोबलाइजेशन) अवधारणा विस्तारित हुई। वैश्विक विकास के संकेत व प्रतीक इस प्रकार के उजागर किए गए कि समाज दिग्भ्रमित होता दिख रहा है। कुछ राष्ट्रों की मजबूरी की आवश्यकताओं को विश्व की आवश्यकता का पर्याय प्रचारित किया गया।

वैश्वीकरण एवं आदिवासी

वैश्वीकरण के ढांचागत प्रारूप को सभी छोटे-बड़े व अमीर-गरीब राष्ट्रों पर थोप दिया जिसके कारण विश्व के विभिन्न समुदाय इस प्रक्रिया के साथ तालमेल नहीं बैठा पा रहे हैं। वैश्वीकरण के सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही पक्ष हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विकासशील देशों में प्रत्यक्ष निवेश वृद्धि, गुणवत्ता आधारित उपभोक्ता सामग्री का प्रसार, घरेलू उद्योगों व कुटीर उद्योगों को अन्तर्राष्ट्रीय पहचान व वैश्विक मंच प्राप्ति, एकधिकारात्मकता प्रवृत्ति का ह्रास आदि को बढ़ावा दिया है। गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या में तेजी से कमी हुई (1977-78 में भारत में बीपीएल संख्या 51 प्रतिशत तो यह 2011-12 में 21.9 प्रतिशत)। नकारात्मक प्रभावों पर विचार करने पर पूंजीवाद का विकृत चेहरा ही दिखाई दिया देता है। विकसित देशों द्वारा गरीब व विकासशील देशों के क्रय शक्ति सम्पन्न उपभोक्ता बाजार पर कब्जा करने की लालसा, उनका शोषण, डम्पिंग प्रक्रिया में तेजी, स्थानीय लघु व कुटीर उद्योगों का ध्वस्त होना, कृषकों को भूमिहीन करके उनको श्रमिक बना देना, पाश्चात्य संस्कृति की घटिया परम्पराओं का परम्परागत समाज में प्रवेश करना (एकाकी परिवार, लिव इन रिलेशन आदि) कृषि भूमि ह्रास, सामाजिक अपराधों में वृद्धि आदि का तीव्र प्रसार हुआ है।

Corresponding Author:

डॉ. कमलकान्त पटेल
 शोधार्थी, पोस्ट-डॉक्टरल फ़ैलो
 समाजशास्त्र विभाग, मोहनलाल
 सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर,
 भारत

श्रम के आधुनिक विभाजन को भलीभांति स्थापित करने से पूर्व ही श्रम के पारम्परिक विभाजन को खण्डित कर दिया गया। वैश्वीकरण के आधुनिक विभाजन को भलीभांति स्थापित करने से पूर्व ही श्रम के पारम्परिक विभाजन को खण्डित कर दिया गया। वैश्वीकरण का सर्वाधिक नकारात्मक बहुआयामी प्रभाव समाज के वंचित व पिछड़े वर्गों पर पड़ा है। इससे से भी जनजातियाँ या आदिवासी वर्ग वैश्वीकरण धारणा से उत्पन्न ग्लोबल विलेज के तन्त्र में अपने आप को कतई समायोजित नहीं मानता।

आदिवासी संस्कृति

भारतीय उपमहाद्वीप एवं दक्षिण अफ्रीका में निवासरत आदिवासी जातियाँ उन्हीं की संतान हैं। जिन्होंने आर्यों के प्रादुर्भाव से पूर्व मानव की आदिम सभ्यता का विकास किया। चंदा समिति ने 1960 में अनुसूचित जातियों के अन्तर्गत किसी भी जाति को शामिल करने के लिए पांच मापदण्ड निर्धारित किये थे जो इस प्रकार हैं – विशिष्ट संस्कृति, पिछड़ापन, भौगोलिक एकाकीपन, सकुचित स्वभाव एवं आदिम जातिगत लक्षण आदि।

प्रकृति के निकट करने से ये प्रकृति हैं। भाषायी दृष्टि से भाषा विज्ञानियों ने भारतीय आदिवासी भाषाओं को मुख्यतः तीन भाषा परिवारों में रखा गया है द्राविड, आस्ट्रिक एवं चीनी तिब्बती। कुछेक आदिवासी भाषाएं भारोपिय भाषा परिवार से भी साम्य रखती हैं। भीली, संधाली एवं गोडी भारतीय आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली प्रमुख भाषाएं हैं। जिसमें संधाली एवं बोडो को संविधान की आठवीं अनुसूची में स्थान प्राप्त है। आदिवासियों में लोक कथाओं, गीतों, कहावतों और मुहावरों की मौखिक परम्परा समृद्ध रही है। जिसे पुरखा साहित्य का नाम दिया गया है। हिन्दुओं के महान धार्मिक ग्रंथ रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि भी कोली जनजाति के आदिवासी थे जो अपने आप में समृद्ध साहित्य हैं एवं युग-युगान्तर से भारतीय समाज को दिशा दिखाती रही हैं। सभ्य (शहरी-ग्रामीण) समाजों में हमें मनुष्य की वर्तमान स्थिति एवं विकास के भौतिक आयामों का पता चलता है वहीं आदिम समाज किस प्रकार सरलता से प्रकृति की गोद में नैसर्गिक रूप से जीवन-यापन कर अपना समय पूरा करता है यह ज्ञात होता है। शहरी समाज, सभ्यता के मकड़जाल में उलझकर अपने नैसर्गिक लक्ष्यों को भूल गया है सामाजिक व्यवहार, रीतिरिवाज एवं भौतिकता में अपने आप को इतना उलझा दिया है कि उसका अपना संतोष कहीं खो सा गया प्रतीत होता है।

आदिवासी समाज में बदलती परिस्थितियों में शिक्षा

औपचारिक शिक्षा के अभाव को विकास में बाधक तत्व माना गया है। शैक्षिक जगत में यह मान्यता रही है कि साक्षरता के अभाव में न तो कोई समाज एवं न ही कोई राष्ट्र विकास के आयामों को सम्पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकता है। भारतीय समाज जो आदिकाल से चला आ रहा था में शिक्षा का अपना महत्त्व था एवं औपचारिक शिक्षा प्राप्ति का एक अलग ही प्रारूप (मॉडल) गुरुकुल के रूप में प्रचलित था जहाँ औपचारिक शिक्षा के साथ ही शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान दिया जाता था। वर्तमान में शिक्षा को साक्षरता के रूप में लिया जाना लगा है एवं साक्षरता से अभिप्राय है कि किसी भारतीय भाषा को समझ के साथ पढ़ एवं लिख सके वह साक्षर है। आदिवासी समाज की अपनी शिक्षा प्रणाली रही है जो व्यावहारिक अधिक है जहां किसी के लिपि के लिखने-पढ़ने की औपचारिक तकनीक विकसित नहीं की गई किन्तु व्यवहार में देखे तो उनके अपने संवाद, संकेत एवं भाषा इतनी शक्तिशाली रही है कि वे दूर-दूर तक अपना ज्ञान एवं कौशल शताब्दियों तक पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानान्तरित करते रहे हैं। इससे न केवल आदिवासी समाज की अपनी संस्कृति अक्षुण्ण रही अपितु अपना नैसर्गिक विकास करते रहे। किन्तु आधुनिक काल में इनके साथ जबरन बाह्य सम्पर्क से इसमें मूलभूत परिवर्तन हुए

हैं। नई राष्ट्रीय शिक्षानीति 1986 को जब लागू किया गया था तब उसमें एक बिन्दु यह भी निर्धारित किया गया था कि शिक्षा समाज और संस्कृति के समाकलनात्मक पहलू को सुदृढ़ करें और एक मूल्य व्यवस्था को स्थापित करें जो समतावादी, प्रजातांत्रिक और धर्मनिरक्षेपता के लिए आवश्यक है। शिक्षा के माध्यम से समाज और संस्कृति के समाकलनात्मक पहलू को सुदृढ़ करने की बात कही गई थी पर व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं हो सका। फलतः आदिम संस्कृति को हानि पहुंची है एवं पहुंच रही है। यही कारण है कि आज यूनेस्को एवं ऐसी तमाम अन्य संस्थाएं इन आदिम जाति समूहों की संस्कृति को सहेजने एवं अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयासरत हैं। भारत में भी सुदुरवर्ती क्षेत्र अंडमान एवं निकोबार समूह में रहने वाले आदिम जातियों एवं उनकी संस्कृति को बचाये रखने के लिए भारत सरकार द्वारा कई प्रयास किए जा रहे हैं। औपचारिक शिक्षा के महत्त्व को न तो नकारा जा सकता है एवं न ही उसे नजरअंदाज किया जा सकता है, किन्तु जहां समाज एवं संस्कृति को अक्षुण्ण रखने की बात आती है वहां इससे थोड़ी दूरी बनायी जा सकती है क्योंकि यह न केवल सच्चाई है बल्कि तथ्य भी है कि जो आदिम संस्कृतियाँ अब तक औपचारिक शिक्षा एवं अन्य संसाधनों के माध्यम से बाह्य वातावरण के सम्पर्क में आती हैं उन आदिम संस्कृतियों ने न केवल अपनी पहचान खोई अपितु भौतिक संसाधनों की वजह से उन समाजों में दरारे भी उत्पन्न हो गई हैं। न तो ये समाज पूर्ण आधुनिक बन सकें एवं न ही ये अपनी विरासत को संभाल सकें। वैज्ञानिकों द्वारा की गई प्रगति चाहे वह चिकित्सा के क्षेत्र में हो या अन्य किसी क्षेत्र में हो समाज का आधुनिक एवं सम्पन्न वर्ग यह चाहता है कि इसका लाभ उन घने जंगलों में निवासरत आदिम समूह को भी मिले पर इसमें भी कभी-कभी स्वार्थ की बू आती है, यह वर्ग उन आदिवासी समाज के संसाधनों पर अतिक्रमण एवं दोहन का अपना हित साधना चाहता प्रतीत होता है। इन आदिम समूहों के अन्दर जो नैसर्गिक शिक्षा की पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परा अग्रेषित होती आयी है उसे ही जीवन्त रखते हुए इन आदिवासी समाजों की संस्कृति को अक्षुण्ण रखना होगा। इस जगह पर हमें साक्षरता एवं शिक्षा में अन्तर करना होगा।

आदिवासी समाज में वैश्वीकरण का प्रभाव

मनुष्य कई हजार वर्षों के विकास की एक लम्बी दौड़ से गुजरकर वर्तमान अवस्था तक पहुंचा है। अनेक मानव समूह वन एवं दुर्गम क्षेत्र में रहने के कारण एक सरल जीवन व्यतीत करते रहे इन्हीं सरल समाजों को समाजशास्त्री विद्वानों ने जनजातीय समाज कहा है। वन के आंतरिक भागों में रहने के कारण जिन नृसमूहों का बाहरी समाज से कोई मिश्रण नहीं हुआ फलतः उनकी अलग ही संस्कृति एवं सामाजिकता का विकास हुआ। नगरीकरण के सामाजिक प्रभाव को हम परिवार, जाति-समाज, महिलाओं, बच्चों आदि के आधारपर आंकलित कर सकते हैं। शहरीकरण से मुनष्य यह भूल गया है कि उसका असली रूप आदिम संस्कृति एवं समाज में ही है। नगरीकरण केवल नगरीय व्यक्ति को ही प्रभावित नहीं करता है अपितु इसका विस्तार नगरीकरण के बाहर ग्रामीण एसव उससे आगे भी जंगल तक विस्तृत हो जाता है, जहां आदिम जनजातियाँ निवास करती हैं। अनेक बार पर्यटन के बहाने या प्रायः वनोपज प्राप्त करने के बहाने शहरी व्यावसायिक वृत्ति के लोग अपने तुच्छ स्वार्थों के वशीभूत इन आदिवासी समुदायों को छोटे-छोटे प्रलोभन देकर इनके वन क्षेत्र एवं इनके सामाजिक परिदृश्य में घुसपैठ बना लेते हैं जो अन्ततोगत्वा न केवल इनकी संस्कृति को नुकसान पहुंचाती है अपितु सामाजिक रूप से भी इन्हें कई बार विश्रुंखल करती है। वनाधिकार अधिनियम 2005 के द्वारा यद्यपि एक सकारात्मक सोच के साथ आदिम जनजाति समूहों को कतिपय शर्तों एवं मापदण्ड पूरा करने के आधार पर वन भूभाग में भूखण्डों के पट्टे आवंटित किए गए थे पर शहरी शरारती तत्व इनमें भी सांठगांठ के द्वारा

घुसपैठ कर इनकी सामाजिक विरासत को हानि पहुंचाते नजर आते हैं। प्रारंभिक तुच्छ स्वार्थ की तुष्टि के उपरान्त जब रोजगार एवं अन्य संसाधनों की कमी से वनवासी जब बाहर का रास्ता करते हैं तो उन्हें नगरीकरण की तमाम बुराईयां झेलनी पड़ती हैं। जहां एक ओर उन्हें नगरीकरण की समस्याओं से दो-चार होना पड़ता है वहीं उनका पीढियां से चला आ रहा है सामाजिक सांस्कृतिक ताना-बाना विच्छिन्न होता दिखाई पड़ता है। आवास की अनुपलब्धता, गंदी बस्तियां, भीड़-भाड़, शोरगूल, प्रदूषण, स्वच्छ पेयजल की अनुपलब्धता, हिंसा आदि ऐसी अनेक समस्याएँ हैं जो नगरीकरण की देन हैं और इन सबका खामियाजा उन्हें ही भुगतना होता है जो गांव या वनांचल से कटकर इस आशा में आता है कि उसे धूप मिलेगा पर जब जिन्दगी को समग्र दृष्टि से आंकलित किया जाता है तो परिदृश्य कुछ और ही बनता है। शहरीकरण आर्थिक दृष्टि से सक्षम के लिए तो स्वर्ग की भांति हो सकता है पर गरीब एवं दबे व्यक्ति के लिए यह किसी नरक से कम नहीं है जहां गन्दी बस्तियां एवं प्रदूषित वातावरण निरुद्देश्य जिन्दगी को ढो रही होती है।

अध्ययन का महत्त्व एवं उपयोगिता

हम यह नहीं कर सकते हैं कि शिक्षा एवं नगरीकरण जो आज लगभग अवश्यम्भावी बन गया है उस विकास यात्रा से इन आदिवासी समूह को पृथक रखे किन्तु हमें कतिपय मानव एवं मापदण्ड अपनाने होंगे जिनसे इनकी विकास यात्रा भी सुचारु रहे और इनकी सांस्कृतिक धरोहर भी अक्षुण्ण रहे।

प्रायः पत्र पत्रिकाओं में आदिवासियों के जीवन, विवाह, परिवार, पश्चिमी जीवन पर आलेख छपते रहते हैं पर उनमें तथ्य कितने हैं एवं कितनी सच्चाई इसका आंकलन कठिन है, क्योंकि बहुत कम ही ऐसे लेखक या विचारक हैं जिन्होंने उनके जीवन को निकटता से देखकर लेखन किया हो। आदिवासी परिवार न केवल सरल व सहज है बल्कि वे पूर्ण आत्मीयता किए हुए अपने आप में सामाजिक एवं सांस्कृतिक तौरपर परिपूर्ण हैं। जिसे वे किसी भी कीमत पर बनाए रखना चाहते हैं।

आदिवासी समाज की आवश्यकताओं एवं आधुनिक शहरी समाज की आवश्यकताओं में मूलभूत अन्तर है जहां उनकी आवश्यकताएँ सीमित होकर नैसर्गिक है जिन्हें अल्पतम प्रयासों से पूरा किया जा सकता है वहीं शहरी आवश्यकताएँ भौतिक संसाधनों से दबी पड़ी है जिनकी प्राप्ति के लिए मानव न दिन देखता है न रात बस कोल्हू के बैल की तरह घुमता रहता है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोलुपतावश शहरी मनुष्य कभी कभार अपनी सीमाओं को लांघकर इन आदिवासियों के जीवन में भी हस्तक्षेप कर बैठता है। जिसका परिणाम शहरी सभ्य समाज को तो भुगतना पड़ता ही है आदिवासी समाज को अपनी संस्कृति भी कई बार इससे खतरे में पड़ जाती है।

औद्योगिकरण के नाम पर आदिवासियों के जल जंगल जमीन पर अतिक्रमण ने आदिवासी समाज की परम्परागत विशिष्टताओं एवं उनकी सामाजिक समरसता को आघात पहुंचाया है। शहरी वर्ग की साहूकारी प्रवृत्ति ने उन्हें अब तक चली आ रही आर्थिक स्वावलम्बन की कमर को तोड़ा है। उनके पारस्परिक जीवन निर्वाह के अब तक की व्यवस्था में व्यवधान डाला है। शहरों के बढ़ते प्रभाव व नगरीकरण की बढ़ती सीमाओं ने आदिवासी समाज की महिलाओं को भी शोषण के एक नए दलदल में फंसाकर रख दिया है। जहां वे देह शोषण का शिकार होकर अपने समाज से भी दूर हो जाती हैं एवं शहरी समाज का हिस्सा भी नहीं बन पाती हैं।

निष्कर्ष

आज यक्ष प्रश्न यह है कि आदिवासी समाज का किस भांति आधुनिक समाज या तथाकथित शहरी समाज के साथ सामंजस्य बिठाया जाए कि ये अपने सामाजिक परिवेश एवं संस्कृति को

निरन्तर भी बनाए रख सकें एवं विकास यात्रा में भागीदार बनकर उसका लाभ भी उठा सकें। समस्याएँ और भी हैं यदि उन्हें (आदिवासी समाज को) एकांकी छोड़ दिया जाए तो क्या यह राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की दिशा में न्यायोचित होगा और यदि उन्हें आधुनिक समाज के साथ लाया जाए तो क्या इनका पृथक अस्तित्व एवं संस्कृति बची रह सकेगी। भारत सरकार एवं राज्यों द्वारा आदिवासी समाज के कल्याण एवं विकास हेतु चलाए गए कई कार्यक्रमों के बावजूद आज भी आदिवासी अंचल में इनका शोषण जारी है। जल जंगल जमीन छिन जाने से कई आदिवासी समूह आज उत्पीडन एवं बंधुआ मजदूर का अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर हैं। इनके वनोपज पर शहरी वणिक वर्ग की पैनी दृष्टि है जो इन्हें अपने ही घर में पराश्रित बना रही है। आदिवासियों में नशाखोरी की प्रवृत्ति भी उन्हें साहूकारों के ऋण जाल में फंसा देती है जो उन्हें ताउम्र इनके दुष्क्रम में फंसा कर रख देती है।

वनोपज कृषि एवं पशुपालन ही आदिवासी समाज का जीवन आधार है। सरकारों द्वारा इसी को ध्यान में रखकर नीतियों में आमूलचुक परिवर्तन करना होगा एवं ऐसी नीतियां व कार्यक्रम बनाने होंगे जिससे कि न केवल पारम्परिक निर्वाह अर्थ व्यवस्था का हिस्सा बन सकें अपितु विकास प्रक्रिया में भागीदार बनकर स्व उत्थान के साथ ही राष्ट्र उत्थान में अपनी भागीदारी निभा सकें। सरकारी तौर पर आदिवासी स्थानिक समतानुरूप समग्र कार्ययोजना बनाकर उसका क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाना चाहिए। सरकारी तंत्र को भी केन्द्रीकृत व्यवस्था के आधार पर संचालित करना, वित्तीय समावेशन को प्रभाविकता के आधार पर प्रचारित करना, जन सहभागिता को सुनिश्चित कर आदिवासी समाज में विश्वास जाग्रत कर उनका विकास करके राष्ट्र की मुख्यधारा में सम्मिलित करना चाहिए। इस कार्य में निजी भागीदारी को इस प्रकार से सुनिश्चित किया जाये कि इस वर्ग का शोषण न हो, गैर सरकारी संगठनों द्वारा जागरूकता बढ़ाने, सहकारी तंत्र या संगठन को प्रोत्साहित करके वैश्वीकरण के सकारात्मक लाभों को आदिवासियों तक पहुंचाना आवश्यक है। अतः विज्ञान एवं तकनीकी विकास, सूचना क्रांति, प्रशासनिक चुस्ती, सरकारी प्रतिबद्धता, विकेन्द्रित विकास, जन सहभागिता के द्वारा वैश्वीकरण के आर्थिक समृद्धि, समग्र विकास व वैश्विक गांव के वास्तविक लक्ष्य को सुनिश्चित किया जाना चाहिये।

संदर्भ सूची

1. शर्मा, वीरेन्द्र प्रकाश "भारतीय समाज मुद्दे एवं समस्याएँ" पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2018
2. जोशी, ओम प्रकाश "भारत में सामाजिक परिवर्तन", रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2017
3. खान, मोहम्मद "वैश्वीकरण में ग्रामीण समाज" इन्टरनेशनल जर्नल, आईएसएसएन 2320-0871, 2016
4. 'न्यू मीडिया विंग' सूचना व प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2016,
5. मीणा, गंगा सहाय "आदिवासी साहित्य विमर्श", अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स लिमिटेड, नई दिल्ली, 2014
6. मीणा, हरिराम "आदिवासी दुनिया" नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 2013
7. गुप्ता, मन्जू "जनजातियों का सामाजिक- आर्थिक उत्थान" अर्जुन पब्लिसिंग हाउस, प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 2011
8. महाजन धर्मवीर, महानज कमलेश "जनजातीय समाज का समाजशास्त्र" अर्जुन पब्लिसिंग हाउस, प्रहलाद स्ट्रीट, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 2005
9. राठौड़, अजयसिंह "भील जनजाति, शिक्षा और आधुनिकीकरण" पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1999

10. श्रीनिवास, एम.एन. "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन"
रावत पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1969
11. पत्र पत्रिकाएं, जर्नल, राजस्थान पत्रिका, दैनिक भास्कर, हंस
साहित्य पत्रिका आदि।